

Reg No 177/2008-2009

ISSN: 2322-0317

**PSSH** PERSPECTIVE *of*  
SOCIAL SCIENCES  
*and* HUMANITIES

An International Multidisciplinary Refereed Research Journal

VOL 2, NO 2

JULY - DECEMBER 2010

Biannual

Editor

*Dr Hemant Kumar Singh*

Assistant Professor

Economics Department

Madan Mohan Malviya PG College

Deoria (UP)

Publisher

*Herambh Welfare Society*

Varanasi (India)



## भारत में विनिवेश का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

अनिल कुमार सिंह<sup>1</sup>

नब्बे के दशक में आयी अर्थव्यवस्था में कमियाँ एक-एक नहीं आयी बल्कि इसकी शुरुआत बहुत पहले से ही थी। अगर इसके इतिहास को देखे तो पाते हैं कि 1960 के अन्त में बहुत सी बातें सामने आयी जिसके परिणामस्वरूप कुछ नीतियों की कार्यप्रणालियों की जाँच करने के लिए समीतियों का गठन किया गया। यह ज्ञात हुआ कि औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 के अनुकूल नहीं थी। अतः इसको शख्त किया गया कि बड़े औद्योगिक घराने वित्तिय संसाधनों का नियंत्रण करते थे क्योंकि व्यवसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण 1969 में (तथा 6 और बैंकों का वर्ष 1980 में) हुआ जिससे कृषि विकास तथा छोटे तथा कुटीर उद्योगों के विकास के लिए कोष उपलब्ध हो सके। यह भी मालूम हुआ कि बहुत से औद्योगिक घरानों का निश्चित गतिविधियों पर एकाधिकार था तथा वे प्रतिस्पर्धा को रोकने का प्रयास कर रहे थे। इसके नियन्त्रण के लिए एक अधिनियम मोनोपोलीस एण्ड रिस्ट्रिक्टिव ट्रेड प्रैक्टिसेज (MRTP) ऐक्ट लागू किया। ऐसे कार्यों को रोकने के लिए एक आयोग (MRTPC) की स्थापना हुई।

वर्ष 1970 के अन्त में कुटीर तथा लघु पैमाने के उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए सार्वजनिक क्षेत्रों के उत्तरदायित्व का विस्तार करने के लिए तथा निजी क्षेत्र से ऋण उद्योगों को अपने अधिकार में लेने के लिए एक आन्दोलन का सुझाव दिया गया परन्तु इसे और आगे नहीं बढ़ाया जा सका।

सत्तर के दशक के अन्त में यह व्यापक रूप से उद्योगों द्वारा अनुभव किया गया कि लघु उद्योगों के संरक्षण के नाम पर प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए (वस्तुओं को आरक्षित करके, कच्चेमाल की उपलब्धता निश्चित करके, उत्पादित माल के क्रय तथा विक्रय में आर्थिक सहायता देकर) ऊँचे प्रशुल्क लगाकर, विदेशी पूँजी तथा तकनीकी के प्रवाह पर रोक लगाकर तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उन उपक्रमों को जो बहुत अधिक हानि उठा रहे थे, विशेष सुविधाएँ देकर सरकार अनावश्यक ही निजी क्षेत्र की औद्योगिक इकाईयों की गतिविधियों पर रोक लगा रही है।

विदेशी हितों के द्वारा स्वर्णों को इस दृष्टि से अभिव्यक्ति किया गया कि सरकार कोटा प्रणाली लगाकर (यद्यपि विदेशी मुद्रा की सीमितता के कारण जिसकी आवश्यकता थी) तथा ऊँचे करल शुल्कों द्वारा तथा विदेशी

<sup>1</sup> शोध छात्र, अर्थशास्त्र विभाग, पं० दीनदयाल उपाध्याय राजकीय महाविद्यालय, सैदपुर, गाजीपुर

पूँजी के प्रवाह, सहायता तथा ऋण के प्रवाह को रोककर विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा रही है। मध्यम वर्ग के उपभोक्ताओं ने सोचा कि ऊँचे प्रशुल्कों द्वारा विदेशी प्रतिस्पर्धा से घरेलू उद्योगों का अतिसंरक्षण किया जा रहा था तथा सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रम अर्थव्यवस्था के हित में आगे नहीं कर रहे थे।

इनमें से कुछ मुद्दों को संबोधित करने के लिए अस्सी ने ही एक शुरुआत हो गयी थी। वर्ष 1980 में एक नई औद्योगिक नीति वक्तव्य की घोषणा की गयी।

इस वक्तव्य में यह स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया गया कि वर्ष 1950 प्रस्ताव ही वर्तमान वक्तव्य का आधार बना है। नई नीति ने सार्वजनिक क्षेत्र की कुशलता पर से सरकार का विश्वास उठ जाने की बात को स्वीकार किया। वस्तुतः 1977 के वक्तव्य में दिये गये निर्देशों को काफी हद तक स्वीकृत किया गया। इसके एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया तथा उद्योगपतियों को आवश्यकता से अतिरिक्त क्षमता स्थापित करने के लिए दण्डित करने के बजाय, बिना लाइसेंस के अधिक क्षमता (उन वस्तुओं को छोड़कर जो लघु क्षेत्र के लिए सुरक्षित हैं अथवा वे स्थितियाँ जहाँ कम्पनियों (MRTP) अथवा (FERA के लिए पंजीकृत हैं) नियमित करने का सुझाव दिया। अस्सी के दशक दौरान, लाइसेन्सींग नीति में निम्नलिखित छूटे दी गयी।

15 करोड़ रुपये के मूल्य की स्थायी संपत्तियों वाले उद्योगों को लाइसेन्स सारे पूर्णरूप से मुक्त कर दिया गया तथा यदि वे भारत सरकार द्वारा घोषित पिछड़े क्षेत्र में स्थित हे तो उनकी सीमा 50 करोड़ रु० रखी गयी।

प्रौद्योगिकी के आधुनिकीकरण के कारण होने वाली पैमाने की बचत को ध्यान में रखते हुए लाइसेंस क्षमता को 45 प्रतिशत बढ़ा दिया गया।

M.R.T.P.C. आयोग में पंजीकरण करने के लिए अवसीमा को 20 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 100 करोड़ रु० कर दिया गया।

विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए फेरा (FERA) कानूनों को उदार कर दिया गया, तथा निगम आय के नियमों के अन्तर्गत रियायत की गयी।

इनके अतिरिक्त सभी स्रोतों से उदारतापूर्वक विदेशी पूँजी उधार ली गयी। गैर निवासी भारतीयों ने बहुत देश भक्ति का परिचय दिया तथा अपनी जमाओं के द्वारा विदेशी मुद्रा भण्डार में बहुत बढ़ा योगदान किया।

पचास, साठ और सत्तर के दशक में औसत वृद्धि दर 3.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, जो अस्सी के दशक में दो योजनाओं (छठीं और सातवीं योजनाओं) में बढ़कर 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गयी। आयातों के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा की राशि सन्तोषजनक थी। फिर भी यह ध्यान देना चाहिए की अस्सी के दशक के दौरान—

क) राजकोषिय घाटा सकल घरेलू उत्पाद के 5 प्रतिशत से बढ़कर 8.5 प्रतिशत से अधिक हो गया।

ख) राजस्व घाटा वर्ष (1981-82 में) सकल उत्पाद 0.2 से बढ़कर 3.5 प्रतिशत हो गया।

ग) चालू लेखा घाटा (बाहरी भुगतान में) 1.2 प्रतिशत से बढ़कर 2.5 प्रतिशत हो गया।

ये तथा अस्सी के दशक के दौरान अपनायी गयी नीतियों की कमजोरियों को प्रतिबिम्बित करते हैं। इन नीतियों ने वृद्धि को प्रोत्साहित किया फिर भी ये नीतियाँ आन्तरिक तथा वाह्य — पर निर्भर थी। अतः अस्सी के दशक दौरान वृद्धि दर की स्थिरता संदिग्ध थी किन्तु परिणाम आशा के विपरीत शीघ्र आये।

### तात्कालिक संकट

खाड़ी के देशों में संकट के कारण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में परिवर्तन से गंभीर विदेशी मुद्रा का संकट उत्पन्न हुआ। खाड़ी देशों को हमारा निर्यात समाप्त हो गया जिससे विदेशी मुद्रा के प्रवाह (दुर्लभ मुद्रा के रूप में) में कमी हो गयी। प्रेषित धन (Remittance) जो अप्रवासी भारतीयों द्वारा खाड़ी देशों से आते थे, समाप्त हो गये। पेट्रोलियम तेल तथा स्नेहक (लुब्रिकेंट) पदार्थों के आयात का बिल बढ़ गया। इन सभी कारकों के संयुक्त प्रभाव से हमारी विदेशी मुद्रा का भण्डार घटकर एक विलियन डालर तक हो गया।

राजनीतिक अस्थिरता ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिससे बड़ी मात्रा में पूंजी का पलायन हुआ और हमारी विदेशी मुद्रा का कोष समाप्त हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक बैंकों ने नये ऋण देने से मना कर दिया। ऋण मूल्यांकन एजेन्सियों ने अपनी व्यवसायिक कुशलता से भारत के अस्तित्व का मूल्यांकन बहुत कम किया। इस कारण गैर निवासी भारतीयों ने अचानक ही अपने जमाओं (Deposit) को वापस ले लिया। वर्ष 1991 के मध्य से हम अपनी किरतों का भुगतान न करने के कारण दोषी (Default) होने के कगार पर आ गये। दो सप्ताहों के आयातों के भुगतान के लिए भी हमारे पास पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा का भण्डार नहीं था।

1991 के प्रारम्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था में एक भयावह आर्थिक संकट आया। इसके सम्बन्ध में सभी यह जानते हैं कि समष्टि स्तर पर इस प्रकार का आर्थिक संकट अर्थव्यवस्था के सामने स्वतंत्रता के बाद पहली बार दृष्टिगोचर हुआ। किसी भी देश में इस प्रकार की आर्थिक संकट की स्थिति में सामान्यतया बहुत तीव्र तथा संचयी मुद्रा स्फीति (Cumulative and accentuating inflation) तथा बहुत अधिक मात्रा की राजकोषिय तथा चालू खाते की घाटे की स्थिति जिसे अर्थव्यवस्था सामान्यतौर पर वहन नहीं कर सके, पायी जाती है। सामान्यतया ऐसा देखा जाता है कि सरकार अपने बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को कम नहीं कर पाती है। फलस्वरूप राजस्व खात में घाटा बढ़ता जाता है। शोचनीय बात यह होती है कि इस घाटे को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण का सहारा लेती है और जितना ही सरकार इस घाटे को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण का सहारा लेती है उसके सार्वजनिक ऋण पर दिये जाने वाले ऋण दायित्व में वृद्धि होती जाती है।

परिणामस्वरूप बजेटरी घाटी (Budgetary deficit) तथा राजकोषीय धारा होती जाती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जब आर्थिक संकट अस्थायी कारणों के कारण होते तब तो स्थिरीकरण सुधार अकेले ही क्रियावित होता है पर जब आर्थिक संकट को दूर करने के लिए संरचनात्मक सुधार अपनाये जाते हैं तो आर्थिक समीकरण के कार्यक्रम भी संरचनात्मक सुधार के साथ-साथ चलते हैं क्योंकि संरचनात्मक सुधार के रूप में अपनायी गयी वित्तिय उदारीकरण औद्योगिक उदारीकरण तथा व्यापार उदारीकरण की नीतियों के परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन की स्थिति बिगड़ सकती है तथा राजकोषीय घाटे में वृद्धि हो सकती है अथवा बेरोजगारी में वृद्धि हो सकती है। ऐसी स्थिति में आर्थिक समीकरण की नीति संरचनात्मक सुधारों के द्वारा होगी और दोनों सुधार समन्वित रूप से साथ-साथ चलेगे। दीर्घकाल में संरचनात्मक सुधार आर्थिक स्थिरीकरण में सहायक होंगे और आर्थिक स्थिरीकरण संरचनात्मक समायोजन के पूरक होंगे। मात्र आर्थिक स्थिरीकरण की नीतियों के द्वारा वर्षों से चला आ रहा आर्थिक संकट पूरक होंगे। मात्र आर्थिक स्थिरीकरण की नीतियों के द्वारा वर्षों से चला आ रहा आर्थिक संकट दूर नहीं होगा क्योंकि संरचनात्मक सुधारों की अनुपस्थिति में सार्वजनिक उद्यमों की हानि बढ़ेगी, फलस्वरूप राजकोषीय घाटे में वृद्धि होती रहेगी।

पूँजी बाजार से बचत के 'क्राउडिंग आउट' के कारण निजी क्षेत्र के विनियोग में कमी आती रहेगी तथा व्यापार नियंत्रण के कारण निर्यात कर विकास अवरोधीत होता रहेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि दोनों ही नीतियों पूरक रूप में साथ-साथ चले।

### तात्कालिक संकट

जून 1991 में जो आर्थिक सुधार के कार्यक्रम आरम्भ किये गये शुरू में स्थिरीकरण कार्यक्रम से सम्बन्धित पर बाद में संरचनात्मक सुधारों के साथ जुट गये। 1991 के प्रारम्भ में उत्पन्न समस्त आर्थिक संकट मुख्य रूप से विदेशी विनिमय कोष में एकाएक तेजी से गिरावट के कारण उत्पन्न हुआ जबकि विदेशी विनिमय कोष घटकर एक विनिमन डालर हो गया जो दो सप्ताह से अधिक के आयात सम्बन्धित दायित्व को पूरा करने में पर्याप्त नहीं था। भारत की विदेशों में ऋण प्राप्ति होने वाली व्यक्तिगत उधारी में कटौती हुई। पर यह समस्त आर्थिक संकट ऊँची स्फीति की दर (12 प्रतिशत से अधिक बढ़ती हुई), बहुत अधिक मात्रा में राजकोषीय घाटा जो सकल घरेलू उधर का लगभग क्रमशः 9 प्रतिशत था तथा घरेलू एवं विदेशी ऋणों के जाल (Debt trap) में फंसी हुई थी।

अगस्त 1990 के खाड़ी संकट ने समष्टि आर्थिक संकट को और बढ़ा दिया। देश की राजकोषीय स्थिति इस समष्टि आर्थिक संकट के लिए कम जिम्मेदार नहीं थी। अस्सी के दशक के दौरान गैर विकासात्मक बोझ में तेजी से वृद्धि के कारण मौद्रीकृत घाटा तथा सकल राजकोषीय घाटा जो सामान्यतया राजकोषीय असन्तुलन के मापक के रूप से स्वीकार किये जाते

हैं, बढ़ रहे थे। 1990-91 में राजकोषीय असन्तुलन के मापक के रूप में प्रयुक्त होने वाले सभी मानक यह प्रदर्शित कर रहे थे कि अर्थव्यवस्था गम्भीर राजकोषीय असन्तुलन की स्थिति में है।

बढ़ता हुआ राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था में न केवल स्फीति दबाव में वृद्धि लाता है क्योंकि इसके कारण अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है तथा साधनों का गतिशीलन कम उत्पादन प्रयोग या अनुत्पादक प्रयोग की ओर होता है, बल्कि यह आवश्यक रूप से भुगतान सन्तुलन की समस्या में फैल जाता है। क्योंकि राजकोषीय घाटे में सृजित स्फीतिक दबाव निर्यात को हतोत्साहित करता है। इस प्रकार राजकोषीय घाटा अपोषणीय होता है और देश को ऋण जाल में फंसा देता है। इस प्रकार राजकोषीय स्थिति में निरन्तर गिरावट चालू खाते में लगातार बने रहने वाले घाटे तथा अर्थव्यवस्था में बढ़ते हुए स्फीतिक दबाव दोनों के लिए उत्तरदायी थी। जहाँ तक गम्भीर समष्टि आर्थिक संकट की बात है मूल्य स्तर में तीव्र वृद्धि कम भयावह नहीं रही।

इस प्रकार की भयावह आर्थिक संकट की स्थिति से अर्थव्यवस्था को उबारने के लिए सरकार ने आर्थिक सुधारों की बात सोची जिसके दो प्रमुख आयाम थे— समष्टि भावी स्थिरीकरण (Micro economic stabilisation) तथा संरचनात्मक सुधार। समष्टिभावी स्थिरीकरण कार्यक्रम अर्थव्यवस्था को तात्कालिक समाधान देने से सम्बन्धित थे। संरचनात्मक सुधार विभिन्न आर्थिक नीतियों में परिवर्तन पर आधारित थे जिससे अर्थव्यवस्था में ढाँचागत परिवर्तन आ सके। भारतीय अर्थव्यवस्था में जो आर्थिक सुधार कार्यक्रम लागू किये गये वे मुख्यतया इस उद्देश्य पर आधारित थे कि व्यापार, विनियोग तथा प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व के देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सके तथा भारतीय उद्यमियों को अन्य विकासशील देशों की तरह औद्योगिक वातावरण मिल सके। देश में कुशलता, प्रतियोगितात्मकता तथा उत्पादकता में वृद्धि हो सके। इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया की पूँजी बहुलता में कमी, सार्वजनिक क्षेत्र के अपोषणीय विस्तार को कम करना और इस प्रकार अर्थव्यवस्था के अपेक्षाकृत ऊँची विनिमय दर को उत्पादन तथा रोजगार की पोषणीय दर में परिवर्तन करना था।

## सन्दर्भ सूची

- भारत का आर्थिक विकास, लेखक, पी०के० चौबे, प्रकाशन— राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, सन् 2004
- भारत का आर्थिक विकास, लेखक—, पी०के० चौबे, प्रकाशन— राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, सितम्बर 2002
- भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एक अनूठा संकलन लेखक— राजू सिंह प्रकाशन— सुमन एस० पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली
- भारत का आर्थिक विकास, लेखक, पी०के० चौबे, प्रकाशन— राष्ट्रीय शैक्षिक एवं अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 2002